



इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

BSKC-134

संस्कृत व्याकरण

संस्कृत व्याकरण

खंड 1	
संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण	5
खंड 2	
सन्धि प्रकरण	53
खंड 3	
समास प्रकरण	135

पाठ्यक्रम परिचय

बी.ए. (सामान्य) संस्कृत के विद्यार्थी के रूप में अब आप BSKC-134 संस्कृत व्याकरण पाठ्यक्रम का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य आपको व्याकरणिक सूत्रों एवं तथ्यों से परिचित कराना है जिसके आधार पर आप संस्कृत भाषा के व्याकरण को समझकर सन्धि, समास, विभक्ति आदि विषयों को समझने की क्षमता का विकास कर सकेंगे। इस पाठ्यक्रम में कुल 12 इकाइयाँ हैं। यह पाठ्यक्रम 6 क्रेडिट का है।

संस्कृत व्याकरण का यह पाठ्यक्रम तीन खण्डों में विभाजित है। इस पाठ्यक्रम का प्रथम खण्ड संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण से सम्बन्धित है। इस खण्ड में संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण से सम्बन्धित सूत्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है।

इस पाठ्यक्रम का द्वितीय खण्ड सन्धि प्रकरण से सम्बन्धित है। सन्धियाँ तीन हैं – अच् सन्धि, हल् सन्धि और विसर्ग सन्धि। इस खण्ड में आप इन सन्धियों से सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन करेंगे।

इस पाठ्यक्रम का तृतीय खण्ड समास प्रकरण से सम्बन्धित है। समास पाँच हैं – केवल समास, अव्ययीभाव समास, तत्पुरुष समास, बहुव्रीहि समास तथा द्वन्द्व समास। इस खण्ड में आप इन समासों से सम्बन्धित सूत्रों का अध्ययन करेंगे।

आशा है कि BSKC-134 संस्कृत व्याकरण का यह पाठ्यक्रम आपको संज्ञा, विभक्त्यर्थ, सन्धि, समास को समझने में सहायक होगा। सम्पूर्ण पाठ्यक्रम की पाठ्य-सामग्री निम्न ढंग से प्रस्तुत की गई है:

- 1) संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण
- 2) सन्धि प्रकरण
- 3) समास प्रकरण

3 सन्धियाँ
5 इकाइयाँ
4 इकाइयाँ
कुल 12 इकाइयाँ

THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

खंड

1

संज्ञा एवं विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई 1

संज्ञा प्रकरण – भाग 1

7

इकाई 2

संज्ञा प्रकरण – भाग 2

23

इकाई 3

विभक्त्यर्थ प्रकरण

37

इकाई 1 संज्ञा प्रकरण – भाग 1

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 मङ्गलाचरणम्..... मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः सूत्र तक।
- 1.3 सारांश
- 1.4 शब्दावली
- 1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 1.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- चौदह माहेश्वर सूत्रों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- चौदह माहेश्वर सूत्रों के अन्तर्गत अच् एवं हल् वर्णों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- 'हलन्त्यम्' सूत्र की व्याख्या एवं तदाश्रित 'उपदेश' पद का अर्थ जान सकेंगे।
- आद्योच्चारण का तात्पर्य-ज्ञान कर सकेंगे।
- 'अदर्शनं लोपः' सूत्र का विस्तृत ज्ञान कर सकेंगे।
- 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र के माध्यम से प्रत्याहार निर्माण की प्रक्रिया का ज्ञान कर सकेंगे।
- स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेद-प्रभेदों को जान सकेंगे।
- अनुनासिक एवं निरनुनासिक (या अननुनासिक) वर्णों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

लौकिक या पारलौकिक व्यवहार का मूल माध्यम संज्ञायें ही हैं। स्वयं आचार्य यास्क ने इनका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है—“संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके।” अतः व्याकरणशास्त्र के प्रारम्भिक ग्रन्थ वरदराजाचार्य-कृत 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में भी सर्वप्रथम संज्ञाप्रकरण की व्यवस्था की गयी है।

यहाँ पर स्पष्ट कर देना परम आवश्यक है कि आज हम जिस व्याकरणशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन कर रहे हैं, उसे माहेश्वर व्याकरण या पाणिनीय व्याकरण कहा जाता है। भगवान् शिव की अमोघ कृपा से आचार्य पाणिनि को 'अइउण्' आदि चौदह सूत्रों की प्राप्ति हुई और इन्हीं सूत्रों के आधार पर आचार्य पाणिनि ने लगभग 4000 सूत्रों के विस्तृत कलेवर से समृद्ध, आठ अध्यायों में निबद्ध, बत्तीस पादों से युक्त समलङ्कृत 'अष्टाध्यायी' नामक वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित शब्दशास्त्र (व्याकरण) का विद्वज्जनोपकार हेतु प्रणयन किया। आज सम्पूर्ण विश्व में इसी ग्रन्थ-रत्न को व्याकरण का आधार ग्रन्थ मानकर पठन-पाठन चल रहा है।

नोट : यहाँ पर आचार्य वरदराज ने गौण क्रिया 'नत्वा' के द्वारा ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को नमस्कार करके 'नमस्कारात्मक' मङ्गलाचरण की सूचना दी। दूसरी ओर 'करोमि' इस मुख्य क्रिया के द्वारा 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' रूप विषय-वस्तु का उल्लेख कर 'वस्तुनिर्देशात्मक' मङ्गलाचरण को भी बताया। यह लघुसिद्धान्तकौमुदी ही व्याकरण का प्रवेश द्वार है।

अब मङ्गलाचरण के पश्चात् यहाँ से ग्रन्थ की औपचारिक प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

अथ संज्ञाप्रकरणम् –

अइउण्॥1॥ ऋलृक् ॥2॥ एओङ्॥3॥ ऐऔच् ॥4॥ हयवरट् ॥5॥
लण्॥6॥ जमङणनम्॥7॥ झमञ्॥8॥ घढधष्॥9॥ जबगडदश्॥10॥
खफछठथचटतव् ॥11॥ कपय् ॥12॥ शषसर्॥13॥ हल्॥14॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।

अर्थ — ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् भगवान् महादेव से प्राप्त हैं। इनका प्रयोजन 'अण्' आदि संज्ञा करना है। इन (चौदह सूत्रों) के अन्त्य (ण्, क्, ङ् आदि) वर्ण इत् संज्ञक हैं। (हयवरट् आदि सूत्रों के) टकारादिओं के साथ पठित अकार उच्चारण के लिए है परन्तु 'लण्' सूत्र के मध्य में पठित अकार इत् संज्ञक है।

व्याख्या — यह प्रसिद्धि है कि आचार्य पाणिनि अपनी विद्यार्थी अवस्था में बहुत मन्द बुद्धि थे। इनके गुरु आचार्य वर्ष के छोटे भाई उपवर्ष, जिन्होंने बोधायन वृत्ति लिखी, ने पाणिनि को भगवान् शिव की उपासना हेतु प्रेरित किया। अनन्तर भगवान् शिव ने इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ताण्डव नृत्य के पश्चात् 14 बार डमरू बजाया। इससे 14 सूत्र सुस्पष्ट रूप से पाणिनि को प्राप्त हुए। भगवान् शंकर से प्राप्त इन सूत्रों को माहेश्वर सूत्र कहा जाता है। "महेश्वरात् आगतानि प्राप्तानि सूत्राणि माहेश्वर सूत्राणि।" 'तत आगतः' सूत्र से अण् प्रत्यय होकर माहेश्वर पद बनता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये सूत्र आचार्य पाणिनि द्वारा कृत हैं। कुछ भी हो, ये सूत्र पाणिनीय व्याकरण के प्राण हैं, आधार हैं। इनका उपयोग आगे 'अण्', 'अच्' आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) के निर्माण में किया जायेगा। प्रत्याहारों में 'अण्' सबसे पहले या आदि में है; इसीलिए इसे अणादि कहा जाता है, यथा— "अण् आदिर्येषां ता अणादयः, अणादयश्चताः संज्ञाः अणादिसंज्ञाः। अणादिसंज्ञा अर्थः प्रयोजनं येषां तानि इमानि अणादि संज्ञार्थानि।"

नियम 1 — एषामन्त्या इतः॥

अर्थ — इन चौदह माहेश्वर सूत्रों के अन्त में स्थित व्यञ्जन वर्ण (ण्, क्, ङ्, च्, ट् आदि) इत् संज्ञक होते हैं।

व्याख्या — इन चौदह माहेश्वर सूत्रों को अष्टाध्यायी की आधारशिला माना जाता है। इन्हीं के आधार पर आचार्य पाणिनि ने लगभग 4000 सूत्रों की रचना की। इन चौदह सूत्रों के अन्त्य में विद्यमान ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ज्ञ्, श्, व्, य्, ट्, ल् इन वर्णों की इत् संज्ञा होती है। प्रस्तावना खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है कि इन इत् संज्ञकों के बल से ही 'अण्' आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) का निर्माण किया जाता है। जो अन्त में हो

वृत्ति – उपदेशोऽन्त्यं हल् इत् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

अर्थ – उपदेश में वर्तमान अन्त्य हल् (व्यंजन) इत् संज्ञक हो। आद्यो (शिव, पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि) का उच्चारण या कथन ही उपदेश है अथवा धातु आदि के आद्योच्चारण को उपदेश कहते हैं। सूत्रों में (जिन पदों की आवश्यकता हो किन्तु उपस्थित न हों) जो पद न हों (किन्तु वृत्ति में दिखाई दें) उन्हें पिछले या कहीं-कहीं अगले) सूत्र से ग्रहण कर लेना चाहिए।

व्याख्या – ‘उपदेशे’ सप्तमी विभक्ति एकवचन, ‘अन्त्यम्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘हल्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘इत्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन। इस व्याकरणशास्त्र के प्रथम कर्ता आचार्य पाणिनि हैं। इन्होंने ‘अष्टाध्यायी’ नामक जगत् प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में (8X4 = 32) बत्तीस पाद हैं। प्रत्येक पाद में सूत्रों की संख्या भिन्न-भिन्न है। इसे निम्न तालिका से समझा जा सकता है, यथा—

अध्यायनाम	प्रथम पाद	द्वितीय पाद	तृतीय पाद	चतुर्थ पाद	सम्पूर्ण संख्या
प्रथमाध्याय	74	73	93	109	349
द्वितीयाध्याय	71	38	73	85	267
तृतीयाध्याय	150	188	176	117	631
चतुर्थाध्याय	176	144	166	144	630
पंचमाध्याय	135	140	119	160	554
षष्ठाध्याय	217	198	138	175	728
सप्तमाध्याय	103	118	119	97	437
अष्टमाध्याय	74	108	119	68	369
सम्पूर्ण अष्टाध्यायी की सूत्र संख्या					3965

इस ‘लघुसिद्धान्तकौमुदी’ में भी अष्टाध्यायी के ही सूत्र बिखरे पड़े हैं। इन सूत्रों के आगे तीन अंक लिखे गये हैं। पहला अंक अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पाद का सूचक एवं तीसरा सूत्र सूचक है, यथा— ‘हलन्त्यम् ।1।3।3।।’ का तात्पर्य है कि यह सूत्र अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद का तीसरा सूत्र है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। अब सूत्रों के अर्थ करने की पद्धति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

- 1) सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिए। जैसे— ‘हलन्त्यम्— ।1।3।3।।’ सूत्र में हल्, अन्त्यम्। ‘आदिरन्त्येन सहेता ।1।1।70।।’ सूत्र में आदिः, अन्त्येन, सह, इता आदि। सूत्रों की वृत्ति करते समय कहीं-कहीं पिछले सूत्रों से एवं कहीं-कहीं आगे के सूत्रों से भी पद ग्रहण कर लिए जाते हैं, जैसे— ‘हलन्त्यम् ।1।3।3।।’ सूत्र में पिछले सूत्र ‘उपदेशोऽजनुनासिक इत् ।1।1।2।।’ से ‘उपदेश’ और ‘इत्’ पद का ग्रहण किया गया है। वृत्ति में आये हुए सभी पदों की विभक्ति एवं वचन पदच्छेद द्वारा स्पष्ट करना चाहिए।

- iii) **गणपाठ** —गणपाठ में आने वाले 'देवट्', 'नदट्' आदि शब्दों के अन्त्य टकार भी 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञक हैं।
- iv) **प्रत्यय** —'अजाद्यतष्टाप्' आदि सूत्रों से विहित 'टाप्' प्रत्यय के अन्त्य पकार 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञक हुए।
- v) **आगम** —'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से प्राप्त तुक् आगम का अन्त्य ककार भी 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञक हुआ।
- vi) **आदेश** —'अवङ् स्फोटायनस्य' आदि सूत्रों से प्राप्त 'अवङ्' आदि आदेश के अन्त्य ङ्कार की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत् संज्ञा हुई।

विशेष —यहाँ पर शंका उपस्थित होती है कि सूत्र में व्याख्या के लिए 'उपदेश' पद की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका समाधान यही है कि यदि 'उपदेश' पद का विधान न किया जाता तो, लौकिक प्रयोगों में प्रचलित 'अग्निचित्', 'सोमसुत्' आदि शब्दों के अन्त्य हल् की भी इत् संज्ञा होती और 'तस्य लोपः' से उनका लोप प्राप्त होता। इसे रोकने के लिए ही ऐसा विधान किया गया।

सूत्र — अदर्शनं लोपः ।1।1।60।।

वृत्ति — प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

अर्थ — विद्यमान का अदर्शन (न सुनाई देना) लोप संज्ञक होता है।

व्याख्या — यहाँ पर 'स्थानेऽन्तरतमः' से 'स्थाने' पद की अनुवृत्ति आती है और विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त होकर 'स्थानस्य' हो जाता है। 'स्थानस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'अदर्शनं' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'लोपः' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अब अर्थ हुआ (स्थानस्य) विद्यमान का (अदर्शनं) न सुनाई देना (लोपः) लोप कहलाता है। यहाँ अदर्शन संज्ञी तथा लोप संज्ञा है।

'दृश्' धातु यहाँ ज्ञानार्थक है। ज्ञान आँख, कान, नाक आदि सभी इन्द्रियों से होता है किन्तु यह व्याकरणशास्त्र (शब्दानुशासन) का विषय है। अतः कानविषयक ज्ञान ही यहाँ ग्राह्य है क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय के विषय हैं न कि चक्षुरिन्द्रिय के। सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी व्याख्या में कहा गया है — "अत्र दृशिर्ज्ञानसामान्यवचनः, दर्शनं ज्ञानम्, तदिह शब्दानुशासनप्रस्तावाच्छब्दविषयकं सत् श्रवणं सम्पद्यते।" तो, विद्यमान का न सुनाई देना ही लोप होता है, जैसे कोई व्यक्ति सखान्, पद का उच्चारण करता है, किन्तु सुनने वाला नकार को नहीं सुनेगा। फलतः व्यवहार में केवल 'सखा' का प्रयोग होगा, न कि —सखान्' का।

नोट — ध्यान देने की बात है कि व्याकरणशास्त्र में शब्द को नित्य माना गया है। अतः 'लोप' का विनाश (विनष्ट होना) अर्थ लेने पर अनित्यता दोष आ रहा था। उसीको दूर करने के लिए 'प्राप्त या विद्यमान के न सुने जाने' को लोप कहा गया है। तो, लोप का यह अर्थ करने से शब्द की नित्यता बनी रहती है।

सूत्र — तस्य लोपः ।1।3।9।।

वृत्ति — तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः।

अर्थ — उस इत् संज्ञक का लोप होता है। ण् आदि अण् आदियों के लिए हैं।

संज्ञा है। मध्य में स्थित 'इ उ' तथा आदि में स्थित 'अ' में तीनों संज्ञी हैं। इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, आम् आदि भी जानने चाहिए। इन अण्, अक्, अच् आदि संज्ञाओं को पूर्वाचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं। 'प्रत्याहियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अनेनेति प्रत्याहारः' है। जहाँ वर्णों का संक्षेप हो, वहीं प्रत्याहार है, जैसे – अ इ उ ण् = अण्; अइउण् ऋलृक् = अक्, अ इ उ ण्, ऋ, लृ, क्; एओङ् ऐऔच् = एच् आदि।

ध्यान देने की बात है कि अन्त्य वर्ण सीमा निर्धारण के लिए हैं। व्यवहार में उनकी गणना नहीं होती है। पुनः हम सूत्र के बीच से भी वर्णों का ग्रहण करके प्रत्याहार बना सकते हैं, जैसे – अ इ उ ण्, ऋलृक् में हम 'इ' से लेकर ऋलृक् के क् तक इक् प्रत्याहार बनाते हैं। बस ध्यान रहे कि बाद में कोई इत् संज्ञक वर्ण अवश्य हो।

'अ इ इ ण्' आदि चौदह सूत्रों से यद्यपि अनेक प्रत्याहार बन सकते हैं तथापि पाणिनीय व्याकरण में जिनका व्यवहार किया जाता है, उनकी संख्या चौवालीस (44) है। कई लोग 'र' प्रत्याहार को नहीं मानते तो, उनके मत में तैंतालीस (43) हैं। इनमें से बयालीस (42) प्रत्याहार तो आचार्य पाणिनि ने स्वयं सूत्रों में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'अम्' उणादि सूत्रों का एवं दूसरा 'चय्' वार्तिकपाठ का है। प्रत्याहारों के अन्तर्गत इत् संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं किया जाता है – "प्रत्याहारेषु इतां ग्रहणं न।" इस प्रकार चौदह माहेश्वर सूत्रों की सहायता से किसी भी सूत्र से कोई वर्ण ग्रहण करके आगे के इत् संज्ञक वर्ण के साथ मिलाकर प्रत्याहार बना सकते हैं। अब प्रत्याहारगत वर्णों का ज्ञान करने के लिए निम्नलिखित बातों को कण्ठस्थ कर लें—

- क) वर्णों के पांचवें वर्ण अमङणनम् सूत्र में हैं।
- ख) वर्णों के चौथे वर्ण झभञ्, घढधष् सूत्र में हैं।
- ग) वर्णों के तृतीय वर्ण जबगडदश् सूत्र में हैं।
- घ) वर्णों के द्वितीय वर्ण खफछठथ तक हैं।
- ङ) वर्णों के प्रथम वर्ण चटतप्, कपय् सूत्रों में हैं।
- च) ऊष्म वर्ण शषसर्, हल् सूत्रों में हैं।
- छ) अन्तःस्थ वर्ण यवरट्, लण् सूत्रों में हैं।
- ज) स्वर वर्ण अइउण् ऋलृक् एओङ् ऐऔच् सूत्रों में हैं।

अब शास्त्रोपयोगी समस्त प्रत्याहारों एवं उनकी सूत्रगत उपयोगिता का विवरण निम्नवत् है—

प्रत्याहार	संज्ञी वर्ण	उदाहरण, सूत्र संख्या
1. अण्	अ, इ, उ	उरण् रपरः (29)
2. अक्	अ, इ, उ, ऋ, लृ	अकः सवर्णे दीर्घः (42)
3. इक्	इ, उ, ऋ, लृ	इको यणचि (15)
4. उक्	उ, ऋ, लृ	उगितश्च (1250)
5. एङ्	ए, ओ	एङः पदान्तादति (43)
6. अच्	सम्पूर्ण स्वर	इको यणचि (15)

36. चर्	वर्गों के 1; श्, ष्, स्	अभ्यासे चर् च (399)
37. शर्	श्, ष्, स्	ङणोः कुक्कुटुक् शरि (86)
38. अल्	सभी स्वर; सभी व्यंजन	अलोऽन्त्यस्य (21)
39. हल्	सभी व्यंजन	हलोऽनन्तराः संयोगः (13)
40. वल्	य् को छोड़कर सब व्यंजन	लोपो व्योर्वलि (429)
41. रल्	य्, व् को छोड़कर सब व्यंजन	रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (887)
42. झल्	वर्गों के 4, 3, 2, 1; ऊष्म वर्ण	झलो झलि (478)
43. शल्	ऊष्म वर्ण	शल इगुपधादनितः क्सः (590)
44. र	र्, ल् वर्ण	उरण् रपरः (29)

संज्ञा सूत्र – ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः ।। 12 । 27 ।।

वृत्ति – उश्च ऊश्च ऊ३श्च इति वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

अर्थ – एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के सदृश जिस अच् (स्वर) का उच्चारणकाल हो, वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञा वाला होता है। उपर्युक्त तीनों अचों के पुनः उदात्त आदि तीन-तीन भेद होते हैं।

व्याख्या – ‘ऊकालः’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘अच्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘ह्रस्व दीर्घप्लुतः’ प्रथमा विभक्ति एकवचन। यह संज्ञा सूत्र है। यहाँ से व्याकरणशास्त्र में उपकारक आगे कही जाने वाली सवर्ण संज्ञा और सवर्ण-ग्राहक के उपयोगी अच् के अठारह भेद सिद्ध किये गये हैं। ‘ऊकालः’ का अर्थ है – उ, ऊ और ऊ३ काल वाले। ‘उश्च ऊश्च ऊ३श्च इति वः। वः कालो यस्य सः ऊकालः।’ अच् प्रत्याहार है और उसमें सभी स्वर आ जाते हैं। ‘ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्चेति ह्रस्वदीर्घप्लुतः। इतरेतरद्वन्द्वः। (यहाँ इतरेतर द्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिए था तथापि सौत्र होने से एकवचन हुआ)। अब सूत्रार्थ हुआ – “(ऊकालः) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण काल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण काल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारण काल वाला अच्, क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत संज्ञा वाला होता है। अर्थात् यदि एकमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान किसी अच् का उच्चारण काल होगा तो, वह अच् ह्रस्व, द्विमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान किसी की उच्चारण काल होगा तो, वह अच् दीर्घ एवं त्रिमात्रिक उकार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल होगा तो, वह अच् प्लुत संज्ञक होगा। कहा भी गया है—

“एकमात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।

त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयः व्यंजनं चार्धमात्रिकम्।।”

आधुनिक काल में लोग सैकेण्ड से मात्रा का निर्धारण करते हैं। एक सैकेण्ड की सीमा में उच्चारित उकार ह्रस्व, दो सैकेण्ड की सीमा में उच्चारित उकार दीर्घ एवं तीन सैकेण्ड की सीमा में उच्चारित उकार प्लुत होता है। इस प्रकार अचों के ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत, ये तीन-तीन भेद हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि सभी अचों के तीन-तीन भेद

व्याख्या — ‘उदात्तस्य’ षष्ठी विभक्ति एकवचन, ‘अनुदात्तस्य’ षष्ठी विभक्ति एकवचन। ‘उच्चैरुदात्तः’ सूत्र से ‘उदात्तः’ तथा ‘नीचैरनुदात्तः’ से ‘अनुदात्तः’ पद की अनुवृत्ति आकर विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त होकर ‘उदात्तस्य’ एवं ‘अनुदात्तस्य’ हुआ। ‘समाहारः’ (समाहरणं समाहारः, भावे घञ्) प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘स्वरितः’ प्रथमा विभक्ति एकवचन। अब भावार्थ होता है — “(उदात्तस्य), उदात्त (अनुदात्तस्य) और अनुदात्त के (समाहारः) एकीकरण या समुच्चय या मेल वाला वर्ण (स्वर वर्ण) (स्वरितः) स्वरित कहलाता है।” अर्थात् जिस स्वर में उदात्त और अनुदात्त दोनों वर्णों के धर्मों का मेल होता है, वह स्वरित संज्ञक होता है। उदाहरणार्थ — अकार का उच्चारण कण्ठ के ऊर्ध्व एवं अधो दोनों भागों से होगा, तब वह अकार स्वरित होगा। इनका प्रयोग केवल वेद में ही होता है। इन्हें इस प्रकार से समझा जा सकता है— उदात्त — अ इ, अनुदात्त — अ इ, स्वरित — अ इ।

स्पष्ट है कि उदात्त के लिए कोई चिह्न नहीं होता, किन्तु अनुदात्त के नीचे पड़ी रेखा और स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा का चिह्न होता है। इस प्रकार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित भेद से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत नौ प्रकार के हो गये।

संज्ञा सूत्र — मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।। ११ ।। १८ ।।

वृत्ति — मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिक संज्ञः स्यात्। तदित्थम् — अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादसभेदाः। लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

अर्थ — मुखसहित नासिका से बोले जाने वाला वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होता है। इस प्रकार — ‘अ, इ, उ, ऋ’ इन वर्णों में प्रत्येक के अठारह-अठारह भेद हो जाते हैं। ‘लृ’ वर्ण के दीर्घ न होने से 12 भेद होते हैं। एचो (ए, ओ, ऐ, औ) के भी ह्रस्व न होने से 12 भेद होते हैं।

व्याख्या — ‘मुखनासिकावचनः’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘अनुनासिकः’ प्रथमा विभक्ति एकवचन। समासः मुखेन सहिता मुख सहिता (तृ.त.) मुखसहिता नासिका मुखनासिका (शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम् वर्तिकेन)। उच्यतेइति वचनः (वर्ण इत्यर्थः), कर्मणि ल्युट्; मुखनासिकया वचनः मुखनासिका वचनः। अब सूत्रार्थ बना — “(मुखनासिकावचनः) मुखसहित नासिका से बोले जाने वाला वर्ण (अनुनासिकः) अनुनासिकसंज्ञक होता है।”

कहने का तात्पर्य यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण का उच्चारण होता ही है किन्तु जो वर्ण मुख के साथ ही साथ नासिका से भी बोला जाये, वह (वर्ण) अनुनासिक होता है। जैसे — ङ् ण् न् म् ज् आदि वर्ण। इसी प्रकार यदि अच् (स्वर) मुख और नासिका दोनों से बोला जाये, तो अननुनासिक होगा। (न अनुनासिकः अनुनासिकत्व धर्मरहितः स अननुनासिकः)। इस प्रकार पूर्व उल्लिखित नौ-नौ भेदों के पुनः अनुनासिक एवं अननुनासिक भेद से अठारह-अठारह भेद हो जाते हैं। अचों के विभेद में अब ‘अ, इ, उ, ऋ’ इनमें से प्रत्येक वर्ण के अठारह-अठारह भेद होते हैं। ‘लृ’ वर्ण के बारह भेद होते हैं। इसके दीर्घ न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के भी 12 ही भेद होते हैं। इसके ह्रस्व न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। इनकी तालिका इस प्रकार है—

v) अनुनासिक वर्ण बोले जाते हैं –

- अ) नासिका से (ब) मुख से
स) मुख और नासिका से (द) किसी से नहीं

3. नीचे दिए गए प्रश्नों में से सत्य तथा असत्य कथन का चयन कीजिए –

- i) माहेश्वर सूत्रों की संख्या पन्द्रह है – ()
ii) 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र इत् संज्ञा करता है – ()
iii) उदात्त स्वर अपने निर्धारित स्थान से ऊपर से बोले जाते हैं – ()
iv) 'हल्' प्रत्याहार में समस्त व्यंजन आते हैं – ()
v) 'लृ' 12 प्रकार का बोधक है, क्योंकि उसका दीर्घ नहीं होता – ()

अभ्यास प्रश्न

- i) 'हलन्त्यम्' सूत्र की व्याख्या कीजिए।
ii) प्रत्याहार किस कहते हैं?
iii) उपदेश किसे कहते हैं?
iv) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में भेद बताइए।

1.3 सारांश

इस इकाई के विधिवत् अध्ययन से आप संज्ञाप्रकरण के अन्तर्गत मङ्गलाचरण के पश्चात् माहेश्वर सूत्र से लेकर 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' तक के सूत्रों को समझ चुके हैं। इसमें स्वरों एवं व्यंजनों के स्पष्ट भेद को समझाते हुए प्रत्याहार निर्माण की प्रक्रिया पर दृष्टिपात किया गया है। साथ ही इत् संज्ञा, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संज्ञा, अनुनासिक संज्ञा पर भी विचार किया गया है। सभी स्वरों के भेदों पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

1.4 शब्दावली

अच् – 'अचः स्वराः' के द्वारा निर्देश किया गया है कि अच् का अर्थ है – स्वर।

हल् – व्यंजनों को हल् कहा गया है।

लोप – व्याकरणशास्त्र में जो वर्ण नहीं सुनाई देते (उपस्थित होने पर भी) उनकी लोप संज्ञा होती है या जिन वर्णों की इत् संज्ञा होती है, उनका 'तस्य लोपः विधिसूत्र से लोप होता है।

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित – जो वर्ण अपने नियत स्थान से ऊपर से बोले जाते हैं, वे उदात्त जो नीचे से बोले जाते हैं, वे अनुदात्त और जिनमें उदात्त और अनुदात्त दोनों का धर्म रहता है, वह स्वरित होता है।

अनुनासिक – जिन वर्णों का उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता है, उन्हें अनुनासिक कहते हैं।

इकाई 2 संज्ञा प्रकरण – भाग 2

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्..... सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र तक ।
- 2.3 सारांश
- 2.4 शब्दावली
- 2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 2.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के विधिवत् अनुशीलन के पश्चात् आप—

- 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र से लेकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' तक के सूत्रों का ज्ञान कर सकेंगे ।
- 'यत्न' और 'प्रयत्न' में भेद जान सकेंगे ।
- 'ऋ' और 'लृ' वर्ण की सवर्ण संज्ञा का ज्ञान कर सकेंगे ।
- बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में जान सकेंगे ।
- वर्णों के उच्चारणस्थान को जान सकेंगे ।
- 'सुबन्त' और 'तिङन्त' का ज्ञान कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में आपने मङ्गलाचरण से लेकर 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' तक के सूत्रों का अध्ययन किया। इस इकाई में 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से लेकर 'सुप्तिङन्त पदम्' तक के सूत्रों की व्याख्या की गयी है। प्रस्तुत इकाई में वर्णों की सवर्ण संज्ञा, उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न आदि के विषय में बहुत विस्तार से बताया गया है। साथ ही एक महत्वपूर्ण बिन्दु का उल्लेख (जो कि प्रथम इकाई में ही करना था किन्तु शब्द मर्यादा के भय से छूट गया) आवश्यक है और वह यह है कि माहेश्वर सूत्र में सभी वर्ण एक बार पढ़े गये हैं, जबकि हकार (ह) दो बार पढ़ा गया है तो क्यों? इसका समाधान है कि, 'अट्' प्रत्याहार और 'शल' प्रत्याहार को चरितार्थ करने के लिए ऐसा किया गया है। यह 'अर्टेण' और 'अधुक्षत्' की सिद्धि में उपयोगी है। इसका यथास्थान विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

पुनः प्रस्तुत इकाई में यत्न और प्रयत्न का भेद स्पष्ट करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों के प्रकारों का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। यहीं पर 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र, जिसे ग्रहणशास्त्र (गृहयते अकारदीनां भेदः येन तद्ग्रहणकम्, स्वार्थे

का ग्रहण न करायेगा। इससे प्राङ् आदि प्रयोगों में नकार को ङकार न होकर अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होंगे।

इसका समाधान यह है कि 'आस्य(मुख)+प्रयत्न' के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ मुख में होने वाला प्रयत्न या स्थान है। ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान 'कण्ठ' तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है; फिर चाहे वह तुल्य हो या न हो, चिन्ता नहीं, सवर्ण संज्ञा हो जाती है। स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान और प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। कारण यह है कि आचार्य पाणिनि ने 'एओङ्' और 'ऐओच्' सूत्रों का अलग-अलग निर्देश किया है।

वार्तिक – ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अर्थ – ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए।

व्याख्या – 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र के अनुसार ककार और लृकार की सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि ऋकार का स्थान 'मूर्धा' है और लृकार का 'दन्त' है किन्तु 'तवल्कारः' आदि प्रयोगों के लिए इनकी सवर्ण संज्ञा करना आवश्यक है। अतः इस त्रुटि की पूर्ति आचार्य कात्यायन ने इस वार्तिक द्वारा की है। अतः दोनों का स्थान साम्य न होने पर भी सवर्ण संज्ञा सिद्ध हो जाती है। सवर्ण संज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से उनका विवेचन किया जा रहा है। यथा –

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

अर्थ – (अठारह प्रकार के) अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का उच्चारणस्थान कण्ठ होता है।

व्याख्या – 'अकुहविसर्जनीयानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'कण्ठः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास** – अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च अकुहविसर्जनीयाः, तेषाम् अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहाँ पर विसर्जनीय और विसर्ग एकार्थवाची हैं। ध्यान देने की बात है कि विसर्ग का कण्ठ स्थान तभी होता है जब वह अकाराश्रित या अकार से परे होता है, जैसे – रामः। जब विसर्ग इकाराश्रित होगा तो, उसका उच्चारणस्थान तालु होगा, जैसे – हरिः। इसी प्रकार भानुः में ओष्ठ उच्चारणस्थान होगा। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान भागिनः।' (पा. शि. 22)

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही उच्चारणस्थान होता है जिसके वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही होते हैं, क्योंकि शिक्षा में कहा गया है—

'अनुस्वारयमानाञ्च नासिका स्थानमुच्यते।' (पा. शि. 22)

अब अयोगवाहों में शेष रहे— जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इनमें से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है; इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार या फकार के आश्रित होने से ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। अब बचा केवल

व्याख्या — ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च ञमङ्गणनाः, तेषां ञमङ्गणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। आदिष्वकार उच्चारणार्थः। यहाँ मूल में च ग्रहण का प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने-अपने वर्णों का स्थान भी होता है, यथा — जकार का तालु स्थान और नासिका स्थान दोनों हैं। इसी प्रकार मकारादि में भी समझना चाहिए।

एदैतोः कण्ठतालु।

अर्थ — बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का 'कण्ठ' और 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या — 'एदैतोः' षष्ठी विभक्ति द्विवचन, 'कण्ठतालु' प्रथमा विभक्ति एकवचन। एच्च ऐच्च एदैतौ, तयोः एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठश्च तालु च कण्ठतालु। प्राण्यङ्गत्वात् समाहरद्वन्द्वः। यहाँ मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिए, तपर नहीं।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।

अर्थ — बारह प्रकार के 'ओकार' तथा 'औकार' का उच्चारणस्थान 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' होता है।

व्याख्या — 'ओदौतोः' प्रथमा विभक्ति द्विवचन, 'कण्ठोष्ठम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन।
समास — ओच्च औच्च ओदौतौ तयोः ओदौतोः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः। ओत्वोष्ठयोः समासे वा इति वार्तिकेन पररूपता। पूर्ववत् यहाँ भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिए।

वकारस्य दन्तोष्ठम्।

अर्थ — वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान होता है।

व्याख्या — 'वकारस्य' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'दन्तोष्ठम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन।
समास — दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वार्तिकेन पररूपता। जो लोग वकार (व) के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग करके उसे बकार (ब) बना देते हैं उन्हें यह नियम ध्यान से पढ़ना चाहिए।

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।

अर्थ — जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड़ होता है।

व्याख्या — 'जिह्वामूलीयस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'जिह्वामूलम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व = ऐसा (अर्ध विसर्ग) चिह्न जिह्वामूलीय का होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा।

नासिकाऽनुस्वारस्य।

अर्थ — नासिका को अनुस्वार का उच्चारणस्थान कहा गया अर्थात् अनुस्वार का उच्चारणस्थान 'नासिका' है।

व्याख्या — 'नासिका' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अनुस्वारस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन। अच् से परे = इस प्रकार का चिह्न 'अनुस्वार' कहलाता है। इसका विवेचन आगे मूल में ही किया जायेगा।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा – विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवारः श्वासा अघोषाश्च। हश्ः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थोऽंशश्च महाप्राणाः।

अर्थ – बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है— 1. विवार, 2. संवार, 3. श्वास, 4. नाद, 5. अघोष, 6. घोष, 7. अल्पप्राण, 8. महाप्राण, 9. उदात्त, 10. अनुदात्त, 11. स्वरित। 'खर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण संवार, नाद और घोष प्रयत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम और 'यण्' प्रत्याहार के वर्ण अल्पप्राण प्रयत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय चतुर्थ और 'शल्' प्रत्याहार के वर्ण महाप्राण प्रयत्न वाले होते हैं।

व्याख्या – यद्यपि यह प्रसंग ध्वनिशास्त्र का है तथापि यहाँ विवार आदि का संक्षिप्त वर्णन अनुचित नहीं होगा।

विवार – वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे 'विवार' प्रयत्न वाले कहे जाते हैं।

संवार – वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को 'संवार' कहते हैं।

श्वास – वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को 'श्वास' प्रयत्न कहते हैं।

नाद – वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को 'नाद' यत्न कहते हैं।

घोष-अघोष – वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूँज का उठना 'घोष' तथा गूँज का न उठना 'अघोष' यत्न कहलाता है।

अल्पप्राण-महाप्राण – वर्णोच्चारण के समय प्राणवायु के अल्प उपयोग को 'अल्पप्राण' तथा अधिक उपयोग को 'महाप्राण' यत्न कहते हैं।

अब उपर्युक्त प्रकरण में आये हुए— 1. स्पर्श, 2. अन्तःस्थ, 3. ऊष्म, 4. स्वर, 5. जिह्वामूलीय, 6. उपध्मानीय, 7. अनुस्वार और 8. विसर्ग। इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं –

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अच्ः स्वराः। ँक् ँख इति कखाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ँप् ँफ इति पफाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यच्ः परावनुस्वारविसर्गौ।

अर्थ – 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्ण अन्तःस्थ हैं। शल् (श्, ष्, स्, ह्) वर्ण ऊष्म हैं। अच् प्रत्याहार में स्वर होते हैं। 'क्' तथा 'ख्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य 'जिह्वामूलीय' होता है। 'प्' तथा 'फ्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य 'उपध्मानीय' होता है। 'अं, अः' यहाँ अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या – प्रत्याहार सूत्रों में 'क्' से 'म्' तक मिलना सम्भव नहीं है। अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग ये ही पच्चीस वर्ण स्पर्श-संज्ञक होते हैं। चूँकि इनका उच्चारण जिह्वा का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है; अतः इन्हें 'स्पर्श' वर्ण कहते

विवार, श्वास, अघोष	संवार, नाद घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त स्वरित
क् ख	ग् घ ङ्	क् ग् ङ्	ख् घ्	अ
च् छ्	ज् झ ञ्	च् ज् ञ्	छ् झ्	इ
ट् ठ्	ड् ढ् ण्	ट् ड् ण्	ट् ढ्	उ
त् थ्				लृ
प् फ्	ब् भ् म्	प् ब् भ्	फ् भ्	ए
श् ष् स्	य्, व् र् ल्	य् व्	श्	ओ
	ह्	र् ल्	ष्	ऐ
	(सभी स्वर)	(सभी स्वर)	स्	औ
			ह्	

संज्ञासूत्र – अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ।। ११ ।। १६९ ।।

वृत्ति – प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु, चु, टु, तु, पु एते उदितः। तदेवम्— ‘अ’ इति अष्टादशानां संज्ञा, तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम् अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अर्थ – जिसका विधान किया जाता है उसे ‘प्रत्यय’ कहते हैं। अतः अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ ‘अण्’ सवर्णों की तथा अपनी संज्ञा वाला हो। केवल इसी सूत्र में ‘अण्’ प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है। ‘कु, चु, टु, तु, पु’ इनको उदित कहते हैं। इस प्रकार ‘अ’ यह अठारह प्रकार की संज्ञा वाला हो जाता है। इसी प्रकार ‘इ’ और ‘उ’ भी। ऋकार तीस प्रकार की संज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार लृकार भी ‘एच्’ प्रत्याहार का प्रत्येक वर्ण बारह-बारह प्रकार की संज्ञा वाला है। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते हैं। अतः अननुनासिक ‘य् व् ल्’ ही दो-दो की संज्ञा होंगे।

व्याख्या – ‘अण्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘उदित्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘सवर्णस्य’ षष्ठी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। ‘अप्रत्ययः’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘स्वस्य’ षष्ठी विभक्ति एकवचन। (चकार के बल से ‘स्वं’ रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा’ सूत्र से ‘स्वम्’ पद आकर षष्ठ्यन्त में विपरिणमित होकर ‘स्वस्य’ बनता है)। **समास** – उत् = ह्रस्व उवर्णः, इत् यस्य स उदित्, बहुव्रीहि समासः। प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः, न प्रत्ययः अप्रत्यय, नञ् तत्पुरुषसमासः अर्थात् (अप्रत्ययः) न विधान किया हुआ ‘अण्’ और ‘उदित्’ (सवर्णस्व) सवर्णियों की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की संज्ञा वाला होता है।

‘प्रत्यय’ शब्द यहाँ यौगिक है इसका अर्थ है – ‘विधान किया हुआ’, यथा – ‘इको यण् अचि’ सूत्र में ‘यण्’ और ‘सनाशंस भिक्ष उः’ सूत्र में ‘उ’ विधान किया गया है। अतः ये

केवल ह्रस्व वर्ण ही सवर्णों के ग्राहक (एच् दीर्घ ही) होते हैं। रेफ और ऊष्म वर्ण 'अण्' प्रत्याहार में होते हुए भी किसी अन्य सवर्णों के ग्राहक नहीं होते। शिक्षाकर इसमें प्रमाण हैं – 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' अर्थात् रेफ और ऊष्म के सवर्ण नहीं होते।

संज्ञासूत्र – परः सन्निकर्षः संहिता 11 14 109 ।।

वृत्ति – वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

अर्थ – वर्णों की अत्यन्त समीपता संहिता संज्ञक होती है।

व्याख्या – 'परः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सन्निकर्षः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'संहिता' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अर्थात् (परः) अत्यन्त (सन्निकर्षः) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' संज्ञक होता है। दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नहीं हो सकता; यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहलाती है।

संज्ञासूत्र – हलोऽनन्तराः संयोगः 11 14 17 ।।

वृत्ति – अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः ।

अर्थ – अचों (स्वरों) के व्यवधान से रहित हलों (व्यञ्जनों) की संयोग संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'हलः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन, 'अनन्तराः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन, 'संयोगः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास** – अविद्यमानम् अन्तरम् = व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि समासः। अर्थात् (अनन्तराः) जिनमें अन्तर का व्यवधान न हो, ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-संज्ञक होते हैं।

व्यवधान सदैव विजातीयों का ही होता है; सजातीयों का नहीं। 'हल्' के विजातीय 'अच्' हैं। अतः यदि हल् अचों के व्यवधान से रहित होंगे तो उनकी संयोग संज्ञा होगी। सूत्र में 'हलः' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं है, किन्तु जाति में बहुवचन किया गया है। इससे दो या दो से अधिक हलों की संयोग संज्ञा हो जाती है, यथा – 'इन्द्रः' पद में नकार, दकार और रेफ की तथा 'कृष्टुः' में षकार, टकार और रेफ की संयोग संज्ञा समझनी चाहिए। ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक हल् की संयोग संज्ञा नहीं होती अपितु सम्पूर्ण हल्-समुदाय की ही होती है। फिर चाहे वह हल्-समुदाय दो हलों का हो या दो से अधिक हलों का।

संज्ञासूत्र – सुप्तिङन्तं पदम् 11 14 14 ।।

वृत्ति – सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

अर्थ – सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप की पद-संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'सुप्तिङन्तम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'पदम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत् सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि समासः। अर्थात् (सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्दस्वरूप (पदम्) पद-संज्ञक होते हैं। शब्दानुशासन का विषय होने के कारण 'सुप्तिङन्तम्' पद का 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है। सुबन्त प्रकरण में 'स्वौजसमौट्' सूत्र में 'सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम् भिस्, डे., भ्याम्, भ्यस्, डसि, भ्याम्, भ्यस्, डस्, ओस, आम्, डि., ओस्, सुप्' ये 21 सुप् प्रत्यय तथा तिङन्त

- ख) पद संज्ञा सुबन्त और तिङन्त दोनों की होती है – (सही/गलत)
- ग) क् ख् से पूर्व आधे विसर्ग के सदृश उपध्मानीय होता है – (सही/गलत)
- घ) विसर्ग का उच्चारण तालु से होता है – (सही/गलत)
- ङ) 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र में अण् पर णकार से ग्राह्य है – (सही/गलत)

अभ्यास प्रश्न

- विसर्जनीय के स्थान का शास्त्रीय विवेचन कीजिए।
- सुबन्त और तिङन्त में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
- 'हलोऽनन्तराः संयोगः' सूत्र की व्याख्या कीजिए।

2.3 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई के विधिवत् अध्ययन के द्वारा आप 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से लेकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' तक के सूत्रों का अर्थ-ज्ञान एवं उनकी उपयोगिता को समझ चुके हैं। यहाँ पर प्रत्येक वर्ण का उच्चारणस्थान तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रयत्नों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रहणकशास्त्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र के आलोक में सभी वर्णों के भेद-प्रभेदों का यथोचित वर्णन किया गया है। साथ ही संहिता संज्ञा, संयोग संज्ञा और पद संज्ञा का भी विस्तृत अर्थ बताया गया है।

2.4 शब्दावली

आस्य-प्रयत्न – 'आस्ये भवम् आस्यम्'। 'आस्य' का अर्थ है 'मुख'। मुख में होने वाला प्रयत्न ही आस्य-प्रयत्न कहलाता है। विभिन्न वर्णों का उच्चारण करने के लिए मुख के अन्दर जो प्रयत्न होता है, उसे आस्य-प्रयत्न कहते हैं।

अप्रत्यय – जिसका विधान सूत्र द्वारा न किया जाए, वह 'अप्रत्यय' कहलाता है।

उदित् – (उत्) ह्रस्व उकार जिसका 'इत्' हो, वह उदित् है, जैसे – कु, चु, टु, तु, पु इन सबमें विद्यमान अनुनासिक उकार (उँ) की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत् संज्ञा हुई है, अतः ये उदित् हैं।

अल्पप्राण – 'प्राण' का अर्थ है— वायु। जिस वर्ण के उच्चारण में कम वायु मुक्त होती है, वह 'अल्पप्राण' है। वर्णों के प्रथम, तृतीय, पंचम और 'यण्' प्रत्याहार के वर्ण अल्पप्राण कहे जाते हैं।

महाप्राण – वर्णों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण तथा शल् प्रत्याहार के वर्ण 'महाप्राण' कहे जाते हैं।

संयोग संज्ञा – जिन दो या दो से अधिक वर्णों के बीच किसी स्वर का व्यवधान न हो, उन्हें 'संयोग' कहते हैं, जैसे – कृष्णः यहाँ 'कृष्णः' पद में ष् ण् के बीच किसी स्वर का हस्तक्षेप नहीं है। अतः इसकी संयोग संज्ञा हुई।

इकाई 3 विभक्त्यर्थ प्रकरण

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 सूत्र-व्याख्या
- 3.3 सारांश
- 3.4 शब्दावली
- 3.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 3.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- 'कारक' के लक्षण और अर्थ के विषय में जान सकेंगे।
- 'प्रातिपदिकार्थ' क्या है? इसका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- कारक के समस्त भेदों और सात विभक्तियों के विषय में जान सकेंगे।
- विभक्ति और कारक के बीच सम्बन्ध का ज्ञान कर सकेंगे।
- कारक विभक्ति और उपपद विभक्ति को स्पष्ट रूप से जान सकेंगे।
- मुख्य कर्म और अकथित कर्म को समझ सकेंगे।
- उक्त, अनुक्त, णिजन्त और अणिजन्त का ज्ञान कर सकेंगे।
- आधार के तीन भेदों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में सञ्ज्ञा और सन्धि प्रकरण के बाद अजन्तपुल्लिङ्ग आदि छः प्रकरणों में 'सु' आदि इक्कीस विभक्ति-प्रत्ययों का विधान किया गया है। इन इक्कीस प्रत्ययों को सात विभक्तियों में विभाजित किया गया है। कौन सी विभक्ति किस अर्थ में होगी, यह बात कारक-प्रकरण में बतायी गई है। अतः इस प्रकरण को 'विभक्त्यर्थप्रकरण' भी कहते हैं।

'कारक' शब्द का एक अर्थ कर्त्ता भी है। यहाँ पर कारक एक पारिभाषिक शब्द है। 'करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकम् अथवा – 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' अथवा – 'साक्षात् क्रियाजनक एवं कारकत्वम्'। अर्थात् जो क्रिया का निमित्त बने, जो क्रिया का निष्पादन करे, जो क्रिया के साथ अन्वय या सीधे सम्बन्ध रखे अथवा जो क्रिया का जनक है, उसे कारक कहते हैं।

ध्यातव्य है कि 'कारक' क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्य-शक्ति है। या हम सरल शब्दों में कह सकते हैं कि क्रिया के साथ साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध रखने वाला

शब्द से निश्चित वाच्यार्थ की उपस्थिति को 'प्रातिपदिकार्थ' कहते हैं। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र में अर्थवान् शब्द को प्रातिपदिक कहा गया है। उसी प्रातिपदिक के अर्थ (जाति, व्यक्ति) को प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है। यह प्रातिपदिकार्थ शब्द का वाच्यार्थ ही होता है। उपर्युक्त सूत्र में द्वन्द्व समास है और द्वन्द्व समास के अन्त में आया हुआ शब्द पूर्व के सभी पदों के साथ सम्बद्ध होता है। सूत्र में चार मानक निश्चित किये गये हैं— प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण और वचन। इन चारों के साथ अन्त में आये हुए 'मात्र' शब्द का योग होता है, (द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते) यह अर्थ हुआ।

अब सूत्रार्थ हुआ — प्रातिपदिकार्थ मात्र में, प्रातिपदिकार्थ होते हुए लिङ्गमात्र की अधिकता होने पर, प्रातिपदिकार्थ होते हुए परिमाणमात्र की अधिकता होने पर और प्रातिपदिकार्थ होते हुए संख्यामात्र की भी प्रथमा विभक्ति होती है। ध्यान रहे प्रातिपदिकार्थमात्र तो सब में रहता ही है। अब सभी का क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है। यथा—

क) प्रातिपदिकार्थमात्रे — प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। किसी शब्द के उच्चारण करने पर नियत रूप से जिस अर्थ की उपस्थिति हो, ऐसे प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे — उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्, आदि। इनके उच्चारणमात्र से ही ऊपर, नीचे, भगवान् श्रीकृष्ण, लक्ष्मीजी और ज्ञान— ये अर्थ स्वतः बिना किसी बाधा के उपस्थित हो रहे हैं। अतः ये वहाँ प्रातिपदिकार्थ माने गये हैं और प्रातिपदिकार्थमात्र में इनमें प्रथमा विभक्ति का विधान हुआ।

ख) लिङ्गमात्राधिक्ये — कोई भी शब्द ऐसा नहीं है — जो केवल अपने लिङ्ग को ही कहे। अतः लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा होती है। अतः प्रकृत सूत्र में लिङ्गमात्र का ग्रहण प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र के आधिक्य के लिए है, जैसे — तटः, तटी, तटम्। यहाँ पर प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र की अधिकता होने पर प्रकृत सूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है।

ग) परिमाणमात्रे — परिमाणमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। आशय यह है कि जब किसी शब्द से प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त परिमाण (माप) अर्थ की प्रतीति हो तो उसमें प्रथमा विभक्ति होती है, यथा— 'द्रोणो व्रीहिः' (द्रोण रूप परिमाण से नापा हुआ धान)। वहाँ पर 'द्रोण' प्रातिपदिक से 'परिमाण-सामान्य' अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। द्रोण स्वयं 'परिमाण-विशेष' है। अतः परिमाण-सामान्य में प्रथमा विभक्ति होकर विशेष और सामान्य में अभेदान्वय हो जाता है। अब हो गया — 'द्रोणः'। 'द्रोणः' का 'व्रीहिः' से अन्वय होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक भाव की प्रतीति होती है। परिच्छेदक 'द्रोणः' विशेषण और परिच्छेद्य 'व्रीहिः' विशेष्य है। अतः 'द्रोणो व्रीहिः' का अर्थ हुआ — 'द्रोणरूप जो परिमाण, उससे नापा गया व्रीहि या धान। यहाँ 'द्रोणः' में प्रथमा परिमाणमात्र में हुई है।

घ) वचनमात्रे — 'वचन' का अर्थ संख्या है। अतः संख्यामात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। उदाहरणार्थ — एकः, द्वौ, वहवः। यहाँ संख्या-मात्र अर्थ को घोषित करने के लिए प्रथमा विभक्ति होती है। यहाँ एक, द्वि, बहु स्वतः संख्या होते हुए भी इनसे संख्या अर्थ की अधिकता में प्रथमा विभक्ति हुई है, जिससे ये पद बन सकें। इन

सूत्रार्थ हुआ — ‘अनभिहित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। ‘अनभिहित’ का अर्थ है — अनुक्त, जो न कहा गया हो। जिस अर्थ में प्रत्यय होता है, वह उक्त होता है और उससे भिन्न अर्थ अनुक्त। यह उक्त अनुक्त होना पाँच हेतुओं पर आश्रित है। यथा—
1. तिङ्, कृत्, तद्धित, समास एवं निपात। इसका विस्तृत विवेचन ‘सिद्धान्तकौमुदी’ के कारक प्रकरण में देखना चाहिए। अब पुनः हम कह सकते हैं कि जिस अर्थ में प्रत्यय होता है, वह अर्थ उक्त एवं तद्धिन्न अनुक्त होता है। जब ‘कर्म’ में लकार आता है तो ‘कर्म’ उक्त होता है और जब कर्ता में लकार आता है। तो कर्म अनुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में कर्मवाच्य में कर्म उक्त होता है और कर्तृवाक्य में कर्म अनुक्त। इसी कर्तृवाच्य में ही कर्म के अनुक्त होने पर उसमें द्वितीया होती है। यही सूत्र का फलितार्थ है। उदाहरणार्थ — ‘देवदत्तः ओदनं पचति’ में कर्तृवाच्य की क्रिया ‘पचति’ के द्वारा कर्ता ‘देवदत्त’ उक्त है और कर्म ‘ओदन’ अनुक्त। अतः अनुक्त कर्म ‘ओदन’ में ‘कर्मणि द्वितीया’ से द्वितीया विभक्ति होकर ‘ओदनं’ रूप बना।

किन्तु कर्मवाच्य में कर्म के उक्त होने पर उसमें द्वितीया विभक्ति नहीं होती, अपितु ‘प्रातिपदिकार्थः’ सूत्र से प्रथमा होती है, यथा— ‘हरिः सेव्यते’ में सेव्यते क्रिया कर्मवाच्य की है। अतः कर्म ‘हरि’ उक्त हुआ। अब उक्त कर्म ‘हरि’ में ‘प्रातिपदिकार्थः’ सूत्र से प्रथमा विभक्ति एक वचन ‘सु’ होकर ‘हरिः’ पद बना। यही स्थिति ‘लक्ष्म्या सेवितो हरिः’ में भी है।

सूत्र — अकथितं च ।। १४ । ५१ ।।

वृत्ति — अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

“दुह्-याच्-पच्-दण्ड-रुधि प्रच्छि-चि-ब्रू-शास्-जि-मथ्-मुषाम्।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी ह-कृष्-वहाम्।।”

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। तुण्डुलान् ओदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुवणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षम् अवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते-अभिधत्ते-वक्ति इत्यादि।

अर्थ — अपादानादि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्म संज्ञा होती है। दुह् (दुहना), याच् (माँगना), पच् (पकाना), दण्ड् (दण्ड देना), रुध् (रोकना), प्रच्छ् (पूछना), चि (चुनना), ब्रू (कहना), शास् (उपदेश देना), जि (जीतना), मथ् (मथना), मुष् (चुराना), नी (ले जाना), ह (ले जाना), कृष् (खींचना), वह् (पहुँचाना) — इन सोलह धातुओं के प्रमुख = प्रधान कर्म से युक्त अपादान आदि विशेष संज्ञाओं की विवक्षा न होने पर ‘कर्म’ संज्ञा हो जाती है, यथा — ‘गां दोग्धि पयः’ इत्यादि में। यह इन सोलह की समानार्थक धातुओं में भी सम्भव है।

व्याख्या — ‘अकथितम्’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्, ‘कर्म’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, (‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ से)। यहाँ सूत्रार्थ केवल इतना है — (च) और (अकथितम्) अकथित। यहाँ सूत्रस्थ ‘च’ पद से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपूर्ण है। इसके स्पष्टीकरण के लिए ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ से ‘कर्म’ की अनुवृत्ति आती है। अतः अब सूत्रार्थ होगा — “अपादानादि विशेषों से अविवक्षित कारक कर्म-संज्ञक

ज) माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा (ब्रह्मचारी के लिए धर्म कहता है या उपदेश करता है) — यहाँ 'माणवक' सम्प्रदान कारक है उसकी अविवक्षा होने पर कर्म-संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

झ) शतं जयति देवदत्तम् (देवदत्त से सौ रुपये जीतता है) — यहाँ पर 'देवदत्त' अपादान कारक है किन्तु अपादान की अविवक्षा होने पर कर्म-संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

ञ) सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति (समुद्र को अमृत के लिए मथता है) — यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि कुछ विद्वान् सुधा को प्रधान कर्म मानते हैं और कुछ लोग 'क्षीरनिधि' को। यदि 'सुधा' प्रधान कर्म होगा तो 'क्षीरनिधि' अपादान की 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होगी और यदि 'क्षीरनिधि' प्रधान कर्म होगा तो 'सुधा' सम्प्रदान की 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होगी। यहाँ दोनों ही दृष्टियों से विचार करना चाहिए।

ट) देवदत्तं शतं मुष्णाति (देवदत्त से सौ रुपये चुराता है) — यहाँ 'देवदत्त' अपादान कारक है किन्तु उसकी अविवक्षा होने पर कर्म-संज्ञा होने पर 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर 'देवदत्त' रूप बना।

ठ) ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (गाँव में बकरी को ले जाता है, खींचता है या पहुँचाता है) — यहाँ ग्राम 'अधिकरण' कारक है किन्तु अधिकरण की अविवक्षा में 'अकथितं च' से 'ग्राम' की कर्म-संज्ञा हुई और 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होकर — 'ग्रामम्' रूप सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त सोलह धातुओं की समानार्थक धातुओं में भी यही स्थिति होती है। 'याच्' की समानार्थक 'भिक्ष्' धातु के होने पर 'बलिं भिक्षते वसुधाम्' में अपादान 'बलि' की कर्म संज्ञा हुई। 'ब्रू' की समानार्थक 'भाष्' धातु में — 'माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ति वा' की स्थिति में 'माणवक' इस सम्प्रदान की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हुई और कर्म में द्वितीया विभक्ति होकर 'माणवकम्' रूप बना।

सूत्र — स्वतन्त्रः कर्ता ।। १४ ।५४ ।।

वृत्ति — क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

अर्थ — क्रिया में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित अर्थ की 'कर्ता' संज्ञा होती है।

व्याख्या — 'स्वतन्त्रः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'कर्ता' प्रथमा विभक्ति एकवचन। 'कारके' का अधिकार पहले से ही आ रहा है। यह सूत्र प्यन्त-प्रक्रिया में आ चुका है। क्रिया की सिद्धि में जो प्रधान होता है, जिसके बिना क्रिया असम्भव है, क्रिया की सिद्धि में जो स्वतन्त्र है, उसी को कर्ता कहते हैं, जैसे — 'रामः ग्रामं गच्छति'। यहाँ कर्ता 'राम' गमन क्रिया (गच्छति) के प्रति स्वतन्त्र है। वह चाहे तो गाँव जाये और चाहे तो न जाये।

संज्ञासूत्र — साधकतमं करणम् ।। १४ ।४२ ।।

वृत्ति — क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

अर्थ — क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक कारक की करण-संज्ञा होती है।

सूत्र — चतुर्थी सम्प्रदाने 2।3।13।।

वृत्ति — (अनुक्ते) सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात्। 'विप्राय गां ददाति'।

अर्थ — (अनुक्त) सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

व्याख्या — 'चतुर्थी' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सम्प्रदाने' सप्तमी विभक्ति एकवचन, 'अनभिहिते' सप्तमी विभक्ति एकवचन, (अधिकृतम्)। अनुक्त या अनभिहित सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है, यथा — '(यजमानः) विप्राय गां ददाति' यहाँ पर दान क्रिया (ददाति) के द्वारा अभिप्रेत 'विप्र' की 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' सूत्र से सम्प्रदान संज्ञा हुई और पुनः 'चतुर्थी सम्प्रदाने' सूत्र से 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति एकवचन में 'विप्राय' रूप बना।

सूत्र — नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-अलं वषट्योगाच्च 12।3।16।।

वृत्ति — एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्, तेन 'दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः शक्तः' इत्यादि। इन्द्राय वषट्।

अर्थ — नमः, स्वस्ति, स्वाहा स्वधा, अलं, वषट् के योग में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

व्याख्या — 'नमस्स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषट्योगात्' पंचमी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्, 'चतुर्थी' प्रथमा विभक्ति एकवचन ('चतुर्थी सम्प्रदाने' से अनुवृत्ति)। यहाँ सूत्रस्थ 'च' पद से ही ज्ञात हो जाता है कि यह सूत्र अपने आप में पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति आवश्यक है। अतः सूत्रार्थ होगा — "नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (पर्याप्त, समर्थ) और वषट् — इन छः अव्ययों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है" अर्थात् जिन शब्दों से इन अव्ययों का योग होता है, उनमें चतुर्थी विभक्ति होती है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ चतुर्थी विभक्ति 'कारके' के अधिकार में नहीं होने के कारण 'उपपद विभक्ति' है। यह चतुर्थी विभक्ति 'नमः' आदि के योग में है। इनके उदाहरण निम्नवत् हैं—

क) हरये नमः (हरि को नमस्कार है) — यहाँ 'नमः' के योग में 'हरि' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

ख) प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो) — यहाँ पर 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

ग) अग्नये स्वाहा (अग्नि को हविदान) — यहाँ पर 'स्वाहा' के योग में 'अग्नि' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

घ) पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिए आहुति है) — यहाँ पर 'स्वधा' के योग में 'पितृ' में चतुर्थी विभक्ति हुई।

ङ) दैत्येभ्यो हरिः अलम् (हरि दैत्यों के लिए पर्याप्त हैं) — यहाँ पर 'अलं' के योग में 'दैत्य' में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग हुआ।

व्याख्या — ‘षष्ठी’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘शेषे’ सप्तमी विभक्ति एकवचन। यह सूत्र शेष अर्थ में षष्ठी का विधान करता है। शेष अर्थात् बचा हुआ। इस सूत्र से पहले प्रातिपदिकार्थ, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण — इन सम्बन्धों को बताया गया है। इनमें क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी और सप्तमी विभक्ति का विधान है। जहाँ पर वे सम्बन्ध या संज्ञाएँ नहीं हुई हैं, वही शेष है। शेष कई प्रकार के सम्बन्धों से जुड़ा है, जैसे — स्व-स्वामिभावसम्बन्ध (एक स्वामी और दूसरी वस्तु), अवयवावयविभावसम्बन्ध (एक अंग और दूसरा अंगी), जन्यजनकभावसम्बन्ध (एक उत्पन्न करने वाला और दूसरा उत्पन्न होने वाला), प्रकृतिविकृतिभावसम्बन्ध (एक प्रकृति और दूसरी उससे होने वाली विकृति या विकार) आदि। ध्यातव्य बिन्दु यह है कि — “प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थ प्रति प्राधान्यादप्रधानादेव षष्ठी” परिभाषा से अप्रधान (विशेषण) में ही षष्ठी विभक्ति होती है। इनके उदाहरण निम्नवत् हैं—

क) राज्ञः पुरुषः (राजा का आदमी) — यहाँ ‘राजा’ स्वामी है और ‘पुरुष’ स्व है। स्व-स्वामिभावसम्बन्ध मानकर ‘राजन्’ से षष्ठी विभक्ति हुई — राज्ञः पुरुषः।

ख) मम गृहम् (मेरा घर) — यहाँ पर मैं ‘स्वामी’ हूँ और मेरा घर ‘स्व’ है। यहाँ पर भी पूर्ववत् स्व-स्वामिभावसम्बन्ध में ‘अस्मत्’ शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई — ‘मम’ बना।

ग) वृक्षस्य शाखा (वृक्ष की डाल) — यहाँ डाल ‘अवयव’ है और वृक्ष ‘अवयवी’। अवयवावयविभावसम्बन्ध मानकर ‘वृक्ष’ में षष्ठी होकर — ‘वृक्षस्य’ बना।

घ) पितुः पुत्रम् (पिता का पुत्र) — यहाँ पर पिता ‘जनक’ है और पुत्र ‘जन्य’। जन्यजनकभावसम्बन्ध मानकर ‘पितृ’ शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर — ‘पितुः’ बना।

ङ) सुवर्णस्य कङ्कणम् (सोने का कंगन) — सोना ‘प्रकृति’ है, उससे बना हुआ कंगन उसकी विकृति या ‘विकार’ है। तो, प्रकृतिविकृतिभावसम्बन्ध में ‘शेषे षष्ठी’ से ‘सुवर्ण’ में षष्ठी विभक्ति होकर ‘सुवर्णस्य’ बना।

कर्म आदि कारकों की सम्बन्ध मात्र विवक्षा में भी षष्ठी विभक्ति ही होती है। भाव यह है कि यदि सम्बन्ध मात्र ही को दिखाना हो तो, कर्म आदि कारकों में भी षष्ठी विभक्ति ही होती है, यथा—

क) सतां गतम् — (सत्पुरुष-सम्बन्धि-गमन) — यहाँ पर कर्ता ‘सत्’ की सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में षष्ठ्यन्त भावना होकर ‘सतः’ पद बना।

ख) ‘सर्पिषो जानीते’ — (घी के द्वारा प्रवृत्त होता है) — यहाँ पर भी सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में करण कारक ‘सर्पिष’ में षष्ठी विभक्ति हुई है।

ग) मातुः स्मरति — (माता-सम्बन्धी स्मरण करता है) — यहाँ पर कर्म-कारक ‘मातृ’ में सम्बन्ध-मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है।

घ) ‘एधोदकस्योपस्कुरुते’ — (लकड़ी जल-सम्बन्धी गुणों को धारण करती है) — यहाँ पर पूर्ववत् कर्म कारक ‘एध्’ में षष्ठी विभक्ति हुई है।

व्याख्या — ‘सप्तमी’ प्रथमा विभक्ति एकवचन, ‘अधिकरणे’ सप्तमी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। यहाँ पर सूत्र में स्थित ‘च’ पद से ही स्पष्ट है कि यह सूत्र पूर्ण नहीं है। इसके स्पष्टीकरण के लिए ‘दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च’ 2.3.35 से ‘दूरान्तिकार्थेभ्यः’ की अनुवृत्ति करनी होगी। इस प्रकार सूत्र का भावार्थ होगा — “अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है; और दूर तथा अन्तिक (निकट) अर्थवाचक शब्दों से भी (सप्तमी विभक्ति होती है)। दूसरे शब्दों में, अधिकरण और दूर तथा समीप अर्थवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है।” उदाहरणार्थ— ‘कटे आस्ते’ (चटाई पर है) में ‘कट’ आधार होने से अधिकरण है; अतः ‘सप्तम्यधिकरणे च’ सूत्र से उसमें सप्तमी विभक्ति होकर ‘कटे’ रूप बना। इसी प्रकार ‘स्थाल्यां पचति’ (बटलोई में पकाता है) में अधिकरण ‘स्थाली’ में सप्तमी विभक्ति होकर ‘स्थाल्याम्’ बना। ‘मोक्षे इच्छास्ति’ (मोक्ष विषय इच्छा है) में अधिकरण ‘मोक्ष’ में, ‘सर्वस्मिन्नात्मास्ति’ में अधिकरण ‘सर्व’ में सप्तमी विभक्ति होकर ‘मोक्षे’ और ‘सर्वस्मिन्’ रूप बने। ‘दूर’ तथा ‘समीप’ अर्थवाचक शब्दों का उदाहरण— ‘वनस्य दूरे अन्तिके वा’ (वन से दूर या निकट)। यहाँ दूर अर्थवाचक ‘दूर’ तथा ‘समीप’ अर्थवाचक शब्दों का उदाहरण— ‘वनस्य दूरे अन्तिके वा’ (वन से दूर या निकट)। यहाँ दूर अर्थवाचक ‘दूर’ तथा समीप अर्थवाचक ‘अन्तिक’ शब्द में सप्तमी विभक्ति होकर ‘दूरे’ और ‘अन्तिके’ रूप बने।

1. निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए —

- i) कारक हैं —
 (अ) पाँच, (ब) सात, (स) छः, (द) नौ
- ii) प्रातिपदिकार्थ है —
 (अ) विकल्प से उपस्थिति (ब) नियत उपस्थिति
 (स) अनियत उपस्थिति (द) अनुपस्थिति
- iii) उक्त कर्म में होती है —
 (अ) प्रथमा (ब) द्वितीया
 (स) पञ्चमी (द) तृतीया
- iv) ‘स्वस्ति’ के योग में विभक्ति होती है—
 (अ) तृतीया (ब) द्वितीया
 (स) पञ्चमी (द) चतुर्थी
- v) ‘नारायणे भक्तिः’ में है—
 (अ) वैषयिक आधार, (ब) औपश्लेषिक आधार,
 (स) अभिव्यापक आधार (द) कोई नहीं

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए —

- क) स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध में होती है।
- ख) ‘तिलेषु तैलम्’ में है।
- ग) ‘नमः’ पद के योग में होती है।
- घ) अप्रधान कर्म को कहते हैं।

3.4 शब्दावली

प्रातिपदिकार्थ — किसी शब्द का उच्चारण करने पर जिस अर्थ की उपस्थिति नियत रूप से (बिना किसी व्यवधान के) होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। यह मुख्यतः 'जाति' और 'व्यक्ति' भेद से दो हैं।

विवक्षा — 'कर्तुरच्छि विवक्षा' अर्थात् कर्ता की इच्छा ही 'विवक्षा' कहलाती है। 'विवक्षा' अन्य कारकों का आधार है इसीलिए कहा जाता है— "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति।" वक्ता जिस भाव से किसी वस्तु को प्रस्तुत करना चाहता है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे तो — 'अग्निः पचति' कहे या अग्निना पचति'।

कारक — क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाला, क्रिया का जनक या क्रिया की सिद्धि करने वाला तत्त्व 'कारक' कहलाता है।

विभक्ति — 'विभक्ति' वह तत्त्व है, जिससे संख्या (वचन) और कारक का ज्ञान होता है।

अनभिहित — 'अनभिहित' का अर्थ है— 'अनुक्त'। जिस अर्थ (कर्ता, कर्म, भाव में से किसी एक में) में लकार होता है, वाक्य में वह 'उक्त' होता है, शेष 'अनुक्त' या 'अनभिहित'।

अकथित — 'अकथित' का अर्थ है— 'अविवक्षित'। यदि किसी पदार्थ को कर्ता तद्वत् न कहना चाहे, तो वह पदार्थ कर्ता के लिए 'अकथित' होता है जैसे— कर्ता सम्प्रदान को सम्प्रदान के रूप में न कहना चाहे, तो उसकी कर्म संज्ञा होती है। ऐसे कर्म को 'अकथित कर्म' कहते हैं।

3.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वरदराजाचार्य, मूल लघुसिद्धान्तकौमुदी. गोरखपुर, गीताप्रेस.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या. गोविन्दाचार्य. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, चौखम्भा सुरभारती.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या. शास्त्री, धरानन्द. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या. शास्त्री, भीमसेन. लघुसिद्धान्तकौमुदी. (भाग-1-6), दिल्ली, भैमी प्रकाशन.

शास्त्री, चारुदेव. व्याकरण चन्द्रोदय. (भाग-1-3), दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

वरदराजाचार्य, सम्पा. एवं हिन्दी सिंह, सत्यपाल. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, शिवालिक पब्लिकेशन.

3.6 बोध / अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

- (i) (स) छः, (ii) (ब) नियत उपस्थिति, (iii) (अ) प्रथमा (iv) (द) चतुर्थी (v) (अ) वैषयिक आधार।